Golden Research Thoughts
ISSN 2231-5063
Impact Factor : 2.2052(UIF)
Volume-3 | Issue-3 | Sept-2013
Available online at www.lbp.world

हिन्दी कविता में प्रतिरोध की चेतना

डॉ. विशाल श्रीवास्तव
प्राध्यापक, हिन्दी–विभाग, राजकीय महाविद्यालय, रानीगंज, प्रतापगढ़ (उ.प्र.)

शोध–सार :

यह शोध–आलेख हिन्दी कविता में प्रतिरोध की चेतना के स्वरूप, विकास और वैचारिक आधारों का विश्लेषण करता है। प्रतिरोध की चेतना से आशय उन रचनात्मक अभिव्यक्तियों से है, जिनके माध्यम से कवि सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अन्याय के विरुद्ध अपनी असहमति और विरोध को व्यक्त करता है। हिन्दी कविता की परम्परा में यह चेतना निरन्तर विकसित होती रही है, किन्तु आधुनिक काल, विशेषतः प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता के दौर में यह अधिक मुखर और सशक्त रूप में सामने आती है। इस अध्ययन में यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रतिरोध की चेतना केवल वैचारिक आग्रह नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ से गहरे जुड़ाव का परिणाम है। वर्ग–संघर्ष, शोषण, सत्ता–केन्द्रित दमन, राजनीतिक विडम्बनाएँ तथा मानवीय असमानताएँ हिन्दी कवियों को प्रतिरोध की ओर प्रेरित करती हैं। सैद्धान्तिक स्तर पर यह आलेख मार्क्सवादी और उत्तर–मार्क्सवादी आलोचना के संदर्भ में प्रतिरोध की अवधारणा को समझने का प्रयास करता है। इसके माध्यम से यह स्थापित किया गया है कि साहित्य, विशेषतः कविता, सामाजिक संरचनाओं और विचारधारात्मक तंत्रों के विरुद्ध प्रतिरोध का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। अंततः, यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि हिन्दी कविता में प्रतिरोध की चेतना न केवल युगीन यथार्थ का प्रतिबिम्ब है, बल्कि वह समाज परिवर्तन की दिशा में सक्रिय हस्तक्षेप भी करती है। इस प्रकार, हिन्दी कविता प्रतिरोध की एक सशक्त सांस्कृतिक आवाज के रूप में उभरती है, जो पाठक में आलोचनात्मक दृष्टि और सामाजिक जागरूकता का विकास करती है।

कुंजी शब्द : प्रतिरोध की चेतना, हिन्दी कविता, प्रगतिवाद, वर्ग–संघर्ष, सामाजिक यथार्थ, मार्क्सवाद

हिन्दी कविता में प्रतिरोध और उसके प्रभावों की बात करना और गंभीरता और दृष्टि से भरी परख की माँग करता है। वस्तुतः हर समय की रचनात्मकता उस समय के दबावों के विरुद्ध एक प्रतिरोध कर रही होती है, फिर भी जिन बृहत्तर अर्थों में हम यहाँ प्रतिरोध के रेखांकन की बात कर रहे हैं, उनके लिए थोड़ी ही सही पर सैद्धान्तिक समझ के साथ व्याख्या और अनुशीलन की आवश्यकता दिखायी देती है। अद्यतन संदर्भों पर बात करने से पूर्व यदि हम इस सैद्धान्तिक समझ के लिए थोड़ा पीछे जायें तो कुछ महत्वपूर्ण आलोच्य–बिंदु दृष्टिगत होते हैं। सबसे पहले बात इस विचार के साथ कि किसी समय की रचनात्मकता में एक साथ कई संस्तर होते हैं और एक की उपस्थिति निश्चित रूप से दूसरे की नगण्यता नहीं मानी जानी जा सकती और संस्तरों की इन बुनावट के लिए रचनाधर्मिता की प्राकृतिक दिशा और शक्ति एक बड़े तत्त्व के रूप में उत्तरदायी है।

मुक्तिबोध अपने निबंध 'काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया' में कहते हैं कि ''काव्यरचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास

है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन हैं।'' ग़ौर करने की बात है कि यह बात मुक्तिबोध तब कह रहे हैं जब उन्होंने नयी कविता पर शीतयुद्ध के पक्ष में गोलाबारी का आरोप लगाया था। उनका यह विश्वास कि नयी कविता में प्रगतिशील तत्व और भी बढ़ते जायेंगे, जैसे खण्डित होता हुआ प्रतीत होता है। अपने बहुचर्चित निबंध 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' में वे कहते हैं, ''कवि अपने आत्मलीन भाव को तो देख पाता है, किन्तु उनको पूर्वगत अनुभवों से प्रकाशित और जीवन–मूल्यों से समन्वित करने वाली जीवनदृष्टि से एकात्म नहीं कर पा रहा है .... जबतक उसकी वेदना व्यापक मार्मिक अर्थ नहीं देती, तब तक कला का दूसरा क्षण सिद्ध–सम्पन्न नहीं हो सकता।'' कवि की आत्मग्रस्तता का प्रश्न मुक्तिबोध के सामने भी उपस्थित था और वे मानते थे कि उसकी भावनाओं का समाजीकरण आवश्यक है।

विचारधारात्मक संकट पर ही बात करते हुए टेरी ईगलटन का मानना है कि कृति की सुंदरता का प्रश्न लेखक के शिल्प तक सीमित नहीं है, बल्कि वे ऐतिहासिक परिस्थितियों से मिलने वाली विशिष्ट अंतदृष्टि को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे स्पष्ट लिखते हैं, ''अच्छा लिखना अच्छी शैली का ही सवाल नहीं है। इसका अर्थ यह भी है कि लेखक के पास एक ऐसा विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य हो जो विशिष्ट परिस्थितियों में आदमी के अनुभव और वास्तविकताओं के भीतर प्रवेश कर सके।'' हिन्दी–कविता में यह अनुभव और वास्तविकता के प्रवेश की कार्यवाही प्रगतिवादी कविता में अपने समूचेपन में सम्भव हो रही थी, जिसकी छाप निराला और पंत की कविताओं से होते हुए केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध और नागार्जुन की कविता में साफ दिखाई देती है। आधुनिक समाज में उत्पादन के दबाव के कारण मनुष्य के जीवन में अवकाश समाप्त हुआ है। अपने आसपास की चीज़ों को ठहरकर देखने का कितना समय हमारे पास अब बचा हुआ है? ऐसा लगता है कि हिंदी कविता में बेचैनी और विकलता का एक सतत अभाव है। ऐसा कुछ नहीं लिखा जा रहा है, जिसके बारे में यह कहा जा सके कि इसको लिखे बिना कवि शायद नहीं रह सकता था, बल्कि ऐसा लगता है कि वह बहुत इत्मीनान से लिखी हुई कविता है। यह एक बेहद रोचक बात है कि यह बेचैनी का अभाव दरअसल जीवन में पूँजीवादी व्यवस्था के कारण पैदा हुई एक अशांत किस्म की बेचैनी से उपजा है।

यह समझना ज़रूरी है कि मार्क्सवाद द्वारा प्रस्तावित विचारधारा सिद्धांतों का संग्रह मात्र नहीं है बल्कि वह वर्गों में बँटे समाज में व्यक्ति की जीवनशैली को भी निर्धारित करती है। इसी तरह, सिर्फ यह मान लेना कि कोई प्रतिबद्ध कृति ही विचारधारात्मक है, सही रास्ता नहीं है बल्कि ऐसी भी कृतियाँ विचारधारात्मक हैं जो समाज की वास्तविक सच्चाई तक पहुँचने में बाधा उत्पन्न करती हैं। साहित्य में आत्मलीनता की हद तक जाने वाली अस्तित्ववादी या तथाकथित आध्यात्मिकता की तलाश करती हुई दार्शनिक कृतियाँ दरअसल यही काम करती हैं, सत्य के रास्ते से भटकाने का। सम्भवतः यही कारण है कि प्लेखानोव साहित्य के समाजशास्त्रीय प्रभाव और सौन्दर्यशास्त्रीय प्रभाव के बीच पूरी कठोरता से फर्क करते थे, हालांकि उनका यह मानना था कि सिर्फ वह कला जो तात्कालिक आनंद देने के बदले इतिहास का हितसाधन करती है, महत्वपूर्ण होती है। वे कहते हैं कि ''विचारधारा रहित कोई कला नहीं होती।'' यह तथ्य अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि एक दूसरे चिंतक अल्थुसर का कहना है कि कला को विचारधारा में बदला नहीं जा सकता है बस उसका विचारधारा से एक निश्चित संबंध होता है और विचारधारा असल में ऐसे काल्पनिक तरीकों का बयान करती है जिनके माध्यम से आदमी वास्तविक विश्व को अनुभव करता है, इसी बात को उनके ही मित्र पियरे मीशरे ने आगे बढ़ाते हुए अपनी किताब 'थियरी ऑफ लिटरेरी प्रोडक्शन' में कहा है कि भ्रांति, जो एक मनुष्य का सामान्य विचारधारात्मक अनुभव होता है, वह आधार है जहाँ से लेखक शुरू करता है, लेकिन उस पर काम करते हुए उसे एक नया स्वरूप और ढाँचा प्रदान करता है।

अभी तक की गयी सारी बातें कविता की आंतरिक संरचना में रेशों की तरह मौजूद प्राकृतिक जनसंस्कार की पड़ताल के लिए आवश्यक हैं, जिनसे रचनाकार अपनी सामयिकता के साथ प्रतिरोध के मोर्चे पर खड़ा होता है। अब ऐसे में वही यक्षप्रश्न सामने आता है कि एक कवि के रूप में रचनाकार के लिए उपलब्ध भिन्न संस्तरों में से उसके लिए एक माकूल चुनाव कैसे सम्भव हो पाता है, या उस सम्भावना का वास्तविक औचित्य क्या है। 'अँधेरे में' की काव्यपंक्ति को रेखांकित करते हुए 'कविता के नये प्रतिमान' में नामवर सिंह कहते हैं, ''क्या करूँ, किससे कहूँ, कहाँ जाऊँ, दिल्ली या उज्जैन? जैसी सीधी–सादी उक्ति भी कविता के नाटकीय संदर्भ में आधुनिक मानव की ऐतिहासिक बेचैनी को ध्वनित करती है।'' मुक्तिबोध के

माध्यम से नामवर सिंह कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी, आत्मसंघर्ष, अन्तर्निषेध और अंत में 'शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व' की बात करते हैं। ये लगभग वही तत्व हैं जो रचनाकार के प्रतिरोध और तत्संबंधी उसके रचनात्मक चुनाव के लिए जिम्मेदार होते हैं। यहाँ जिस शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की बात की गयी है, आज समूचे हिन्दी कविता के परिदृश्य पर उसका घना कुहासा छाया है, और इस कुहासे में राह दिखाते हैं पुनः मुक्तिबोध जो अपनी पुस्तक 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' में कहते हैं कि ''कविता में कहां कितना फ्राड होता है, मैं जानता हूँ इस फ्राड को आप कौशल भी कह सकते हैं ..... यह अनिवार्य नहीं है कि काव्य की वास्तविक रचना का क्षण युगपत रूप से हृदय के द्रवण का चित्त की रसात्मकता का भी क्षण हो।'' अर्थात् जिस तथ्य को एक सैद्धान्तिक अपवाद के रूप में कभी मुक्तिबोध ने ग्रहण किया था आज वह एक सर्वमान्य फार्मूले का रूप ले चुका है।

चिंतन की एक अन्य दिशा यह भी है कि प्रतिरोध के पूरे मामले का सरलीकरण इस एक बात से किया जाता रहा है कि चूंकि अब हिन्दी पट्टी में कोई सक्रिय आंदोलन नहीं है, तो उस किस्म का प्रतिरोध या उसकी छाया हिन्दी कविता में दृश्यमान नहीं होती। इस महान सुविधाजनक वाक्य की पड़ताल करते हुए मार्क्स के एक कथन को याद करना उचित होगा जो उन्होंने जर्मन रोमांटिक कविता के बारे में कहा था कि वह एक पवित्र नकाब है, जिसके पीछे वहाँ के मध्यवर्ग का दुखपूर्ण गद्य छिपा हुआ है। कविता का काम जहाँ अर्थों को खोलना और दुखों को सार्वजनिक बनाते हुए उनका साधारणीकरण करना है, वहीं मिथ्या कविता का काम इसी तरह के पवित्रा आवरण तैयार करना है, जो यथार्थ को अपने पीछे छिपा सकें। दुख की बात है कि हिन्दी में लगातार ऐसे आवरण तैयार होते रहे हैं जिन्होंने काव्यात्मक प्रतिरोध का रंग फीका किया है।

प्रतिरोध के मुद्दे पर बात करते हुए यह भी देखना आवष्यक है कि उसके कई अवसादी संस्तर इन बीते दशकों में विन्यस्त होते गये हैं। जिन आधारभूत चीज़ों के प्रतिरोध को लेकर हिन्दी में विचार–कविता का उद्भव हुआ था न सिर्फ उन चीज़ों में बदलाव और विस्तार आया है बल्कि जिस धरातल से कविता में प्रतिरोध की आवाज उठ रही थी, वह धरातल भी समाजशास्त्रीय परिवर्तनों के कारण बदल गया है। साहित्य के इस बदले हुए समाजशास्त्र को समझे और स्वीकार किये बिना कविता में प्रतिरोध की पड़ताल सम्भव नहीं है। जैसे, उदाहरण के तौर पर अधिकतर कवि गाँव से शहरों की ओर आये हैं, लेकिन जीवनभर वे गाँव से जुड़ी कविताएँ ही लिखें, यह आवश्यक नहीं है। उनकी कविताओं में शहरी जीवन और उसकी तथाकथित सुख–सुविधाएँ या मध्यमवर्गीय त्रासदियाँ भी आयी हैं। विस्थापन के कारण ग्राम्य–जीवन या लोक के कवि की छवि से निकलकर कवि अब मुख्यतः मध्यवर्ग का हिस्सा बन गया है।

कविता की दृष्टि और प्रतिरोध को लेकर ये शक़ नये नहीं हैं। ऐसा पहले भी हुआ है, अपनी पुस्तक 'नये प्रतिमान पुराने निकष' में लक्ष्मीकांत वर्मा कहते हैं कि ''पंत अपने बन्द कमरे की खिड़की से ग्रामवधू को देखते हैं तो अज्ञेय वातानुकूलित गाड़ी के पारदर्शी शीशे से कोदों उपजाने वाले महतो की दीनता पहचानते हैं।'' अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसे में अन्य कला–माध्यमों की तरह प्रतिरोध के मसले पर कविता प्रश्नातीत होने की ओर आगे बढ़ जाती है और कवि से उसी तरह यह सवाल पूछा जाना बन्द कर देना चाहिए कि तुम कविता क्यों लिखते हो, जिस तरह कोई किसी शास्त्रीय गायक से नहीं पूछता कि तुम क्यों गाते हो?

लेकिन सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश इन पंक्तियों का सच थोड़ा धुंधला है। दरअसल पिछले दशकों में लगातार हमारे आस–पास की राजनैतिक–सामाजिक और आर्थिक स्थितियाँ जिस तरह गड्डमड्ड हुई हैं, उनके कारण प्रतिरोध का सवाल और उसके आधार भी मिश्रित और संदेहास्पद हो गये हैं। वैचारिक संक्रमण और संकट की पहचान ही सबसे बड़ा और मुश्किल काम हो गया है। प्रायः जिस सुविधाजनक परिस्थिति की बात की जाती है, वह महज वायवीय नहीं है। वस्तुतः, नियामक तत्त्व के रूप में आज विद्यमान पूँजीप्रवाह ने समाज के हर वर्ग को उसके अनुरूप 'सुविधाजनक स्थिति' का एक खोल प्रदान कर दिया है। इस खोल में चाहे अनचाहे हमारे बीच का वह कवि भी बन्द है, ऐसे में उससे किसी धारदार प्रतिरोध की माँग करना एक तरह की नाइंसाफी भी हो सकती है।

कविता निरंतर अपनी पिछली पीढ़ी से कुछ न कुछ ग्रहण करती है। खासकर हिन्दी में काव्य–भाषा, विचार और भाव–बोध अल्पांश और बहुलांश में लगातार परम्परित हुए हैं। अस्सी का दशक हिन्दी कविता

का महत्त्वपूर्ण दशक है और उसने हिंदी कविता को कई महत्त्वपूर्ण कवि दिये हैं। नब्बे के बाद की कविता का परिदृश्य भी उस कविता से कई मायनों में परम्परित हुआ है। एक बड़ा अंतर जो प्रतिरोध के मसले पर अस्सी के दशक से ही हिंदी कविता में दिखने लगता है, वह यह कि अपनी पिछली पीढ़ियों की तरह इस पीढ़ी के कवि पॉलिटिकली करेक्ट तो थे, लेकिन नागार्जुन और मुक्तिबोध जैसे कवियों की तरह न तो उनमें सर्वहारा के प्रति वह व्यक्तिगत रागात्मक सम्पृक्ति ही निवेशित हो पायी और न ही वे अपने निजी जीवन में किसी सक्रिय आंदोलन के सहभागी बन पाये, कुछेक कवि इसके अपवाद भी हो सकते हैं। समग्रतः, इस पीढ़ी ने कवि के रूप में क्रांति के नायक की जगह क्रांति के ढिंढोरची या मशालची का दायित्व निभाना अधिक उचित समझा। इसे आलोचना या निंदा न समझकर एक आवश्यक और अनिवार्य बुराई के रूप में समझा जाना चाहिए, जिसके समाजशास्त्रीय कारणों की बात हम पहले ही कर चुके हैं। इधर की कविता के परिदृश्य में कुछ नये प्रभावकारी तत्व भी शामिल हुए जिनमें साम्प्रदायिकता, आर्थिक सामाजिक तत्त्वों के रूप में लचीली व्यवस्था का आगमन और साहित्य व सभ्यता–समीक्षा की सैद्धांतिकी के रूप में उत्तर–आधुनिक विमर्श को रेखांकित किया जा सकता है। कविता में प्रतिरोध की वैचारिकी के रूप में इन लक्षणों की उपस्थिति एक मजबूत आधार को जन्म तो देती है लेकिन हमने देखा कि किस तरह धीरे–धीरे ये लक्षण एक तरह की रचनात्मक फार्मूलेबाजी में बदल गए। एक हिट कविता की दरकार में सैकड़ों सतही कविताएँ लिखी गयीं। कुछ ऐसा ही हाल बाज़ारवाद और उत्तर–आधुनिकता पर लेखन का रहा है। यहाँ एक मौजूँ बात कहना जरूरी है, एडोर्नो ने कहा है कि उत्तर–आधुनिकता प्रोटेस्ट भी है और यूटोपिया भी बल्कि कई बार एक निगेटिव यूटोपिया भी है। ऐसे में प्रतिरोध के जिन बदले हुए स्तरों और धरातलों की बात हम कर रहे थे, वे यहाँ एक साथ प्रतिरोध और उसके विलोम की तरह एक साथ उपस्थित होते हैं।

किसी भी समय के संदर्भित काव्य–आकाश की भांति इस नयी सदी में भी कई धाराओं में कवि सक्रिय रहे हैं, उनकी अपनी प्राथमिकताएँ रही है, अपने काव्य–विषय रहे हैं और इसी कारण उनके प्रतिरोध की मात्राा, दिशा और गुणात्मकता भी अलग अलग रही है। इस दौर के नये कवियों में प्रतिबद्धता पर बात करते हुए सबसे पहले जो बात जेहन में आती है वह खासी दिलचस्प है। युवा कवियों को दिये जाने वाले पुरस्कारों में से एक पुरस्कार जो एक प्रतिबद्ध लेखक संगठन द्वारा दिया जाता है, के निर्णायक मंडल के एक सदस्य ने मुझसे एक बात साझा की। उन्होंने कहा कि कुछ युवा कवियों ने चुने जाने के बाद सिर्फ इसलिए वह पुरस्कार लेने से मना कर दिया क्योंकि उसपर वाम विचारधारा के एक लेखक संगठन की छाप है। उन कवियों को लगा कि अगर वे यह पुरस्कार लेते हैं तो उनपर एक ठप्पा लग सकता है, जो उनकी 'व्यापक स्वीकृति' को नुकसान पहुँचा सकता है। इसी से जुड़ी हुई एक दूसरी बात भी है, नक्सलबाड़ी आंदोलन से जुड़े एक कवि ने एक बातचीत में बड़ी निराशा से कहा कि मैंने तीस साल पहले ही वामपंथ से मुँह मोड़ लिया था और लोग मुझे आज भी उस विचारधारा का कवि कहते हैं। यानी स्पष्ट है कि जो वामपंथ या प्रगतिशीलता पहले आकर्षण का विषय थी, या इसे ऐसे कहें कि उससे जुड़ा हुआ होना प्रशंसा का विषय था, वह आज उपालम्भ का विषय है।

जेमसन का कथन है कि साहित्य में जो राजनीतिक नहीं लगता उसके भी राजनीतिक निहितार्थ होते हैं। तो कई बार जिस कविता को हम निरीह और अशक्त पाते हैं, जिसके बारे में हमें लगता है कि आग बुझ चुकी है और सिर्फ चिनगारी–सी छिटकती दिखाई देती है, उसके भीतर कोई अदम्य गरमाहट छिपी हो सकती है। कविता के प्रभाव की इस अपूर्णता का एक कारण यह भी है कि अन्य विदेशी भाषाओं की भांति हिन्दी में उस तरह का पाठक समाज नहीं है, जो कवि को पढ़ता नहीं है, बल्कि उससे संवाद करता है, उससे प्रभाव ग्रहण करता है और साथ ही उसपर निगरानी भी रखता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दी का कवि अकेला है। साहित्य के परिवर्तनशील समाजशास्त्र ने लगातार कवि और उसकी कविता को अंधकार भरे हाशिये में धकेला है। आमजन का रचनात्मक जुड़ाव संचार के नये साधनों की उपलब्धता के कारण साहित्य से टूटता गया है, ऐसे में इस प्रभाव की पड़ताल लगभग अलक्षित–सी रह जाती है। ऐसे में ज़रूरी है कि कवि विचार तक पहुँचने के लिए अपने नैसर्गिक रास्तों को चुने और पाठकों से आत्मीय संवाद स्थापित करते हुए एक क्रियाशील साहित्य–समाज बनाने का लक्ष्य सामने रखे।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

1. मार्क्स, कार्ल, एंगेल्स, फ्रेडरिक। (1848/2010)। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' (पुनर्मुद्रित संस्करण)। नई दिल्ली, प्रोग्रेस पब्लिशर्स
2. मार्क्स, कार्ल। (1867/2013)। 'दास कैपिटल' (खंड 1, पुनर्मुद्रित संस्करण)। नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस
3. एंगल्स, फ्रेडरिक। (1880/2011)। 'सोशलिज्म : यूटोपियन एंड साइंटिफिक', नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस
4. ईगलटन, टेरी। (1976/2006), 'Marxism and Literary Criticism'। लंदन, रूटलेज
5. ईगलटन, टेरी। (1996/2008)। 'Literary Theory: An Introduction' (2nd ed.)। मिनियापोलिस, यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस
6. अल्थुसर, लुई। (1971/2001)। 'Lenin and Philosophy and Other Essays'। न्यूयॉर्क, मंथली रिव्यू प्रेस।
7. जेमसन, फ्रेडरिक। (1981/2002)। 'The Political Unconscious: Narrative as a Socially Symbolic Act'। इथाका, कॉर्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस
8. जेमसन, फ्रेडरिक। (1991/2009)। 'Postmodernism or The Cultural Logic of Late Capitalism'। डरहम,: ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस
9. शर्मा, रामविलास। (1955/2011)। 'हिन्दी कविता की भूमिका'। नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
10. सिंह, नामवर। (1968/2013), 'कविता के नए प्रतिमान', नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
11. सिंह, नामवर। (1982/2013)। 'दूसरी परंपरा की खोज'। नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
12. चतुर्वेदी, रामस्वरूप। (1997)। 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास'। नई दिल्ली, लोकभारती प्रकाशन।
13. पांडेय, मैनेजर। (2001)। 'साहित्य और इतिहास दृष्टि'। नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन।
14. मिश्र, शिवकुमार। (1987)। 'मार्क्सवाद और हिन्दी आलोचना'। नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
15. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद। (2005)। 'कविता क्या है'। नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन।